❑ विमल वर्मा

साम्प्रदायिकता और इतिहास-दृष्टि

विश्व पूंजीवाद के इस चरम एवं सर्वव्यापी संकट में हम जनवादी क्रांति के लिए प्रस्तुत हो रहे हैं। यह जनवादी क्रांति सामन्तवाद, साम्राज्यवाद और इजारेदार पूंजीवाद के विरुद्ध है। यह संघर्ष कृषि-क्रांति और राजसत्ता पर अधिकार के लिए किया जा रहा है। वर्तमान दौर में देशव्यापी वामपंथी आंदोलन के आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोण का यही मुक्त स्वर है।

इस संघर्ष में सहयोगी सांस्कृतिक कार्यकर्त्ताओं का आज मुख्य दायित्व यही है कि वे अपनी संघर्षमयी सृजनशीलता से जनमानस की चेतना का स्तर ऊंचा उठायें। शासक-शोषक वर्ग द्वारा निर्मित जीर्ण-शीर्ण विचारों, आदर्शों एवं संस्कारों का उन्मूलन कर जीवनोन्मुखी स्वस्थ चेतना को निर्मित करें और उसे प्रचारित-प्रसारित करें।

व्यावहारिक अनुभव की कसौटी पर हमें दैनन्दिन-जीवन में विभिन्न प्रकार की जटिलताओं का सामना करना पड़ता है। ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ साधक ऐसे हैं, लेकिन परिणाम में वे असफल होते जा रहे हैं। ऐसा क्यों ? दरअसल किसी महत् कार्य के लिए मात्र लगनशीलता ही पर्याप्त नहीं है। किसी भी आन्दोलन में खासकर सांस्कृतिक क्षेत्र में हमें उस पूरी प्रक्रिया पर विचार करना पड़ेगा कि हमारी गतिविधि हमें इतिहास की किस दिशा में ले जा रही है।

आज भारतीय बौद्धिकता को जैसे लकवा मार गया है। समाज के जब सचेत तबके में भी एक तरह की निश्चिन्तता, उदासीनता, बचकानापन और भी ज्यादा गहरा, ज्यादा साफ और ज्यादा निकट दिखायी देता है। आज जैसे हम एक ज्वरग्रस्त इमरजेंसी के अन्तराल में जी रहे हैं। क्या बिना अपने भीतर के अलगाव से मुक्ति पाये हम इस संकट से छुटकारा पा सकते हैं? कोई भी जाति संकट की घड़ी में अपने अतीत को, अपनी जड़ों को टटोलती है। यह आत्ममंथन की भी घड़ी है। संकट की घड़ी में अपनी परम्परा का मूल्यांकन करना, एक तरह से खुद अपना मूल्यांकन करना है। संस्कृति मनुष्य की आत्मचेतना का ही प्रदर्शन नहीं, यह उस सामूहिक मनीषा की उत्पति होती है जिसके द्वारा व्यक्ति विश्व से जुड़ता है। प्रत्येक जाति अपनी परम्परा की आंखों से यथार्थ को छानती है। स्थिति तो यह है कि हमारी चेतना की अंधेरी मिथकीय जड़ें, इतिहास के पानी को अपने ऊपर से बह जाने दे रही हैं। हम जैसे यथार्थ को नकार कर अतीत के मिथकों, प्रतीकों एवं दु:स्वप्नों में जी रहे हैं। आज जब हम समस्त मूल्यों और मान्यताओं का स्रोत अपनी चेतना में भी ढूंढ़ते हैं तो इस संदर्भ को समझने के लिए हमें भारतीय मनीषा के टेक्स्टचर की बुनावट को समझना पड़ेगा। हालत तो यह है कि हमारे बौद्धिक वैभव की शुरुआत जिन इतिहासविदों ने की, उसी के दुष्परिणाम और उनकी तार्किक परिणति के फलस्वरूप, वर्तमान विभीषिका का यह विकराल रूप दिखायी पड़ रहा है। व्यावहारिक स्तर पर इतिहास को झेलना और मनीषा के स्तर पर उसके दबाव को अस्वीकारना, यह हमें आत्मविभाजित, हमारे व्यक्तित्व को खंडित, हमारी आत्मा को खंडित नहीं करेगा तो और क्या करेगा? बिना इस उत्स को समझे हम अपनी परम्परा, अपनी संस्कृति और अपनी जीवन-पद्धति के मूल स्रोतों को सचेत ढंग से नियोजित नहीं कर सकते। इसी तरह हम अपनी जातीय अस्मिता के प्रति अविश्वास को खत्म कर सकते हैं। प्रश्न उठता है कि वर्तमान, हमारे लिए ढोनेवाला बोझा क्यों बन गया है? शायद इतिहासविदों की आत्म-छलना में ही वर्तमान संकट के बीज निहित हैं।

महिमामंडित अतीत के प्रति पूजा भरी श्रद्धा, अन्धविश्वास, भविष्य के प्रति अपार सम्मोहन के पीछे वर्तमान के प्रति जो गहरी अवज्ञा छिपी हुई है, उसे इतिहास की जड़ों में ढूंढ़ना पड़ेगा। एक ओर इतिहासकार का संबंध अतीत से होता है, दूसरी ओर उसकी महत्वपूर्ण भूमिका उस समाज के भावी निर्माण में होती है जिसका वह अध्ययन करता है। अतीत के साक्ष्य के सहारे उसके विवेचन विश्लेषण में इतिहासकार अपने समकालीन परिवेश से भी प्रभावित होता है इसलिए ऐतिहासिक व्याख्या की प्रक्रिया दोहरी बन जाती है। अर्थात् वर्तमान की आवश्यकताओं को विकास के नियमानुसार अतीत में ढूंढ़ा जाय और अतीत के बिम्ब का वर्तमान से सामन्जस्य स्थापित किया जाय। अतीत का बिम्ब भविष्य में क्या होगा यह तो इतिहासकार की ही मौलिक देन होती है। लेकिन बहुत से इतिहासकारों ने इसे ऐसे प्रस्तुत किया है जिससे प्रतिक्रियावादी राजनीतिक भ्रमों और मिथकों की सृष्टि हो रही है। उदाहरण के लिए आर्य जाति की श्रेष्ठता का सिद्धांत निर्मित किया गया जिसका फायदा फासिस्टों ने उठाया। द्वितीय विश्वयुद्ध से लेकर आज तक उसकी असह्य यातना सबको झेलनी पड़ रही है। दूसरा सिद्धांत यह गढ़ा गया कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिन्दू और मुसलमानों के दो पृथक राष्ट्र होने चाहिए। इसका उपयोग साम्राज्यवादियों ने पाकिस्तान के निर्माण का औचित्य सिद्ध करने के लिए किया। इस तरह कल्पना प्रसूत औचित्यों की तलाश में वर्तमान को अतीत पर आरोपित कर पूरी की पूरी पीढ़ी को गुमराह किया गया। इतिहासकारों ने भारत के अतीत के संबंध में कुछ ऐसे दृष्टिकोण और सिद्धांत प्रस्तुत किये जो उत्तरोत्तर अधिकाधिक अप्रासंगिक होते जा रहे हैं। हमें आज औपनिवेशिक युग के इतिहास लेखन के वितण्डावादी दृष्टिकोणों से मुक्त होने की जरूरत है। अपनी संस्कृति और इतिहास का निष्पक्ष और आलोचनात्मक मूल्यांकन करने का आत्मविश्वास आना चाहिए। आखिर अतीत का यह कैसा बिम्ब प्रस्तुत किया गया जिसने भारतीयों तथा विदेशियों, दोनों के मन में गहरे पूर्वाग्रहों को जन्म दिया। यह आम धारणा आज भी विद्यमान है कि भारतीय तो अपने इतिहास से विमुख थे, वे अपने इतिहास का कोई प्रलेख सुरक्षित नहीं रखते थे।

भारत के अतीत का अनुसंधान अंग्रेज शासकों के तत्वावधान में आरम्भ हुआ। सम्पूर्ण भारतीय अतीत की समझदारी के संदर्भ में बहुत बड़ा अन्तर विरोध यह है कि जेम्समिल जैसे इतिहासकारों ने और विशेष करके ईसाई धर्म के प्रचारकों ने यह प्रतिपादित किया कि भारत के अतीत की संस्कृति में बुद्धिवाद के तत्व नहीं मिलते, उनकी कोई विधि प्रणाली भी नहीं थी। भारतीय अतीत का समाज गति शून्य था। इस विश्लेषण ने ब्रिटिश शासकों को बड़ी मदद दी और उन्होंने यह दावा किया कि भारतीय समाज को बदलने के लिए उन्हीं का बुद्धिवादी कानून उपयोगी है। उनके हिसाब से प्राचीन भारत में केवल निरंकुशता का बोलबाला था। इस तरह प्राच्य निरंकुशता पर जोर देकर साम्राज्यवादियों ने इसका अपने ढंग से उपयोग किया। गौर करने की बात है कि जेम्समिल की लिखी हुई 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया' नामक पुस्तक से लिखबरी कालेज की पाठ्य पुस्तक बनी जहां भारत भेजे जाने वाले सिविल अधिकारी प्रशिक्षण पाते थे। भारतीय इतिहास की ऐसी व्याख्याएं पिछले दो सौ वर्षों से की जा रही हैं। यूरोप में राष्ट्रवाद की जो लहर उठी उसके फलस्वरूप यूरोप के अतीत को एक नयी दृष्टि से देखा जाने लगा, लेकिन जिन लोगों ने एशिया और अफ्रीका में नये उपनिवेश बसाये, उन्होंने भारतीय इतिहास की व्याख्या में राष्ट्रवादी दृष्टि को ताक पर रख दिया और ऐसे विचारों का प्रतिपादन किया जो भारतीय इतिहास तथा संस्कृति से संबंधित बद्ध मूल धारणाओं में परिवर्तित हो गये और यही धारणायें साम्राज्यवाद की आवश्यकताओं के लिए उपयोगी बनीं।

जाहिर है कि आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रतिरूप आज भी सांस्कृतिक प्रभुत्व में समाया हुआ है। इतिहास के विकास की पद्धतियों के बारे में और इतिहास के नियमों की जिन्हें जानकारी है, वे जानते हैं कि समाज पर, उसके विकास पद्धति पर राजकीय अधिसंरचना का प्रभुत्व होता है यद्यपि उसका आधार आर्थिक ढांचा होता है। इस अधिसंरचनात्मक संस्थाओं में मरणासन्न तथा नवीन दोनों तरह की पद्धतियों की, सामाजिक संस्थाएं उसके भीतर अवयंव के रूप में शामिल रहती हैं। लम्बे दौर तक उनका सह कायम रहता है और वे एक-दूसरे पर गहरा प्रभाव डालती हैं। वर्तमान ऐतिहासिक स्थिति में सामाजिक संघर्षों पर जब नयी परिवर्तित परिस्थितियां हस्तक्षेप कर रही हैं तो परम्परागत धार्मिक चेतना नवोदित प्रक्रियाओं और प्रवृत्तियों के विरुद्ध रूढ़िवादी प्रतिक्रिया का आधार बन रही है। आज उत्पादक शक्तियों, उत्पादन संबंधों, सामाजिक संस्थाओं, विचार-धारात्मक धारणाओं तथा सांस्कृतिक मूल्यों के क्षेत्र में संकट के लक्षणों का संचय हो रहा है। यह असंतुलन जहां इतिहास की नयी गति की ओर इंगित कर रहा है वहीं यह विभिन्न प्रकार की विकृतियों को भी पैदा कर रहा है। उदाहरण के लिए उन्हीं इतिहासकारों ने इस बात पर जोर दिया कि भारत का प्राचीन समाज एक आदर्श समाज था, इसमें सर्वत्र मेलजोल का वातावरण था यानी वहां किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं था, क्योंकि भारत के लोग तो आध्यात्मिकता की ओर ज्यादा उन्मुख थे और वे भौतिकवाद की ओर ज्यादा झुकाव नहीं रखते थे। इस मान्यता से आज सांस्कृतिक पुनरुत्थान को धार्मिक पुनरुत्थान से जोड़ दिया है और इसने तथाकथित हिन्दुत्व की रूढ़िवादी पुनर्शक्ति की पुनर्प्रतिष्ठा संभव करने की एक भूमिका बनायी जो आज आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक गतिरोध पैदा कर रहा है, भौतिक और आध्यात्मिक आधार पर पश्चिमी और पूर्वी सभ्यता को बांटने का यह अपराध आज भी एक ऐसी मानसिकता को जन्म दे रहा है, जिसमें लोग फंस कर मशीन के ही विरोधी हो गये।

उदाहरण के लिये आर्य और अनार्य का भेद और उसके दुष्परिणाम पर यदि गौर किया जाय तो एक नकली वैज्ञानिक सिद्धांतों के जन्म का उद्भव पाते हैं। उपनिवेशवादी व पृथकतावादी प्रवृत्तियों को उत्तेजना देते हैं और उपनिवेश में यह उत्तेजना हर गुट को अपनी संस्कृति के पृथक मूल की तलाश की ओर ले जाती है और ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं कि राष्ट्रीय संस्कृति की परिभाषा और प्रवृत्ति विछिन्नतावाद, अलगाववाद तथा आंचलिकतावाद को जन्म देता है। हिन्दू-मुस्लिम तनाव का कारण बताने और उस तनाव को उचित ठहराने के लिए यह धारणायें आज भी भारतीय समाज को खंड-खंड करने में लगी हैं।

मेरी समझ से आर्य जाति विषयक धारणा को भारतीय परम्परा से जोड़ना अनुचित है। प्रारम्भिक साहित्य में आर्यों का उल्लेख बार-बार मिलता है, लेकिन इस शब्द का प्रयोग या तो विशेष समादृत व्यक्ति के रूप में या म्लेच्छ अथवा अनार्य से भिन्न अर्थ में हुआ है। भिन्नता का आधार भाषा, मुखाकृति या धार्मिक पूजन है। आर्यों को पृथक सांस्कृतिक समुदाय तो माना गया है लेकिन अलग जाति के रूप में नहीं। अतीत के साक्ष्य जैसे बोधायन, जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र, महावग्म् नामक बौद्ध ग्रन्थ में आर्यावर्त की अलग-अलग परिभाषा की गई है। अर्थात् अमुक समुदाय के स्रोत किस संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं और उस संस्कृति का मुख्य केन्द्र कहां था। उत्तर वैदिक ग्रन्थों में आर्यावर्त का उल्लेख मुख्यत: गंगा-यमुना-द्वाबा और उसके सीमावर्ती क्षेत्रों के अर्थ में हुआ है। इस सीमा से बाहर के क्षेत्रों का उल्लेख सामान्यत: म्लेच्छ देश के रूप में हुआ है। यह मापदण्ड प्रजाति का नहीं है, जाहिर है कि वैज्ञानिक और लोक प्रचलित दोनों अर्थों में प्रजाति की परिकल्पना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक यूरोप की उपज है। भारतीय सभ्यता के आरम्भ की खोज करते हुए विद्वान अक्सर वैदिक साहित्य तक रुक जाते हैं, यह खोज अधूरी है और इसमें स्पष्ट कालदोष है। इसके पहले तीसरी शताब्दी में हड़प्पा संस्कृति की जो खोज हुई है वह इस मान्यता का खंडन करती है। दरअसल इतिहासकारों ने साहित्यिक स्रोत को ही अधिक विश्वसनीय माना, उन्होंने पुरातात्विक साक्ष्य को गौण बना दिया। पुरातत्व का संबंध अतीत के भौतिक अवशेषों की खोज और उनकी व्याख्या से होता है। इसलिए यह अन्वेषण दो महत्वपूर्ण क्षेत्रों के सम्बन्ध में साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। पहला शिल्प विज्ञान का अध्ययन। यह अध्ययन इस बात की जानकारी देता है कि संस्कृतियों में परिवर्तन कैसे और क्यों हुए?

इतिहास के अध्ययन में दूसरा उपादान परिवेश संबंधी साक्ष्य का होता है। यानि अमुक इतिहास काल में परिवेश का घटनाओं और घटनाओं का परिवेश पर कैसे प्रभाव पड़ा। ध्यान देने की बात है जब तक मनुष्य का अस्तित्व क्रम कायम है तब तक कोई संस्कृति मिटती नहीं। उन्नत संस्कृति नगर का अतिक्रमण कर अपने इर्द-गिर्द की ग्रामीण संस्कृतियों पर भी अपना प्रभाव छोड़ जाती है। ऐसे नागरिक सांस्कृतिक केन्द्रों का भौतिक दृष्टि से भले ही पतन हो जाय, लेकिन उनकी सांस्कृतिक परम्परा बहुधा नवागंतुकों द्वारा दाखिल किये गये रीतिरिवाजों को आत्मसात् कर लेते हैं। आज धीरे-धीरे यह जानकारी हो रही है कि हड़प्पा निवासी चाहे जो रहे हों, भारतीय सभ्यता के आदि प्रवर्तक वही थे। हड़प्पा के लोग नगर निवासी थे और ताम्रशिल्प विज्ञान का प्रयोग करते थे किन्तु ऋक्वैदिक लोग यायावर पशुपालक थे। इनकी अर्थ व्यवस्था पशुपालनोन्मुख थी और क्रमशः कृषि की ओर उन्मुख होती जा रही थी। सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद तीनों वैदिक ग्रन्थों से यह प्रमाणित होता है कि इनका भौगोलिक केन्द्र बिन्दु पंजाब-हरियाणा से खिसक कर द्वाबा और मध्य गंगाघाटी में पहुंच गया। इसमें ऐसे समाज की तस्वीर मिलती है जो पशुपालक से कृषक बन चुका है और नागरिक जीवन की श्रीगणेश हो चुका है।

भाषा का प्रश्न भी इतिहास, विज्ञान से सम्बद्ध होता है। यह बात गलत है कि भाषा का प्रचार विजय पर ही निर्भर करता है। जो भाषा जितनी अधिक उन्नति से जुड़ी होती है वह उतनी ही अधिक प्रचारित-प्रसारित होती है। इसलिए भाषा की दृष्टि से भी विभिन्न इतिहासकाल के विभिन्न सामाजिक रूपों के विकास को तभी समझा जा सकता है जब इस पर गौर किया जाय कि समाज किस प्रकार संगठित था, उसके रूप किस हद तक परिवर्तित हुए।

जाति समस्या के बारे में भी भारतीय इतिहासकारों ने भ्रमों को बढ़ावा दिया है। साथ ही साथ साम्राज्यवाद और आज के शोषक-शासक वर्ग इसे उन्माद का रूप दे रहे हैं। दरअसल प्राचीनकाल में जाति प्रधान समाज की विशेषता थी जातियों का अस्तित्व। जातियां विवाह संबंधों को निर्धारित करने वाले वंशानुगत समूह थे, उनका गठन श्रेणीबद्ध रूप में पेशे के अनुसार होता था। इसी आधार पर वे परस्पर एक दूसरे की सेवा करते थे। अतः जातियों का आधार समझने के लिए तत्कालीन उत्पादन संबंधों को समझना पड़ेगा। धर्म शास्त्र सामाजिक वैधानिक ग्रन्थ हैं, लेकिन उसको सम्पूर्ण वास्तविक नहीं माना जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि भारतीय सभ्यता का मूल या स्रोत केवल आर्य जाति में ही नहीं बल्कि कई संस्कृतियों के पारस्परिक सम्पर्क और इस सम्पर्क के फलस्वरूप एक दूसरे पर डाले गए प्रभाव में ढूंढ़ा जा सकता है।

भारतीय दर्शन और विचार के ऐतिहासिक विकास पर गौर किया जाय तो भौतिक स्थितियों, श्रम के स्वरूपों और पारस्परिक सम्पर्कों की अनुभूति और प्रकृति से मानवीय सम्पर्क तथा उसके संघर्ष के गर्भ से ही दर्शन और विचार का उद्भव और विकास हुआ है। साम्राज्यवाद और भौतिकवाद दोनों के विकास का उद्गम और प्रवाह भी उन्हीं भौतिक संबंधों से प्रतिफलित होता है। अतः केवल यह मानना कि प्राचीन भारतीय संस्कृति केवल पारलौकिकता के मूल्यों से ग्रसित थी, वह लौकिकता की ओर उन्मुख नहीं थी, यह बेबुनियाद है। हां, यह बात जरूर है कि मूल्य के रूप में निवृत्ति का अन्य अधिकांश संस्कृतियों की तुलना में भारतीय संस्कृति में अधिक महत्व है। इस कारण को समझने के लिए भी इतिहास के वैज्ञानिक दृष्टिकोणों को अपनाना पड़ेगा।

सवाल उठाया जाता है कि आज जब भारत आधुनिक राष्ट्र का रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया में है तो जाति प्रथा का उन्मूलन क्यों नहीं हो पाया। यद्यपि भारत द्वारा आधुनिक राष्ट्र का रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष, राष्ट्रीय एकता की विकसित होती हुई भावना, जाति प्रथा विरोधी आंदोलन तथा विद्रोह का गौरवपूर्ण इतिहास रहा है। इस आधुनिक राष्ट्र की उदीयमान राजनीतिक व्यवस्था में इसके सभी तबके समानता और बंधुत्व के स्तर की मांग कर रहे थे। यह एक क्रमिक और धीमी प्रक्रिया थी, संघर्षों की यह सभी भिन्न धारायें करीब-करीब साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की विराटधारा में मिल गईं। वस्तुतः यह प्रक्रिया वंश परम्परा पर आधारित जाति प्रथा वाली पुरानी हिन्दू प्रणाली के विघटन की ही प्रक्रिया थी, परन्तु औपनिवेशिक शासकों के हित के खिलाफ यह बदलाव उन पर असर डाल रहा था। पुराने समाज, उसके स्तर विभाजन, उसकी अर्थ व्यवस्था के बदलाव की प्रक्रिया धीमी, जटिल और यातनादायी थी। अतएव अंग्रेजों ने जाति प्रथा को बरकरार रखने वाले पुराने सामन्ती भूमि संबंधों पर न्यूनतम आधुनिक पूंजीवादी संबंध थोप दिये। वे अपने उपनिवेश को दृढ़ बनाये रखने के लिए स्थानीय शक्तिशाली पूंजीपति वर्ग को विकसित नहीं होने देना चाहते थे, इस प्रकार दो विरोधी प्रक्रियायें जारी थीं। एक ओर नये उत्पादन के साधन, कारखाने, और नये यातायात के साधन को विकसित करना। दूसरी ओर सामाजिक आर्थिक मदद पाने के लिए सामन्तों पर निर्भर रहना यानी जाति प्रथा को समर्थन देना। राष्ट्रीय आंदोलन के अधिकांश नेता हिन्दुओं की ऊंची जाति से आये थे, अभी उन्हें देशी औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं था। यह नेतृत्व आम जनता से अलग-थलग पड़ा था, वह अपने तत्कालीन अनुयायियों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने से डरता था। वर्तमान में पददलित, पराभव से पीड़ित राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व वर्ग जनता में उसकी प्राचीन संस्कृति का गौरव जगाकर साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में पूरे भारत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को उतारना चाहता था। इसके कारण भी वे पुनरुत्थानवादी सोच और विचारधारा की ओर मुड़ गये। यह एक विडम्बना ही है कि उस समय का उदारवादी नेतृत्व तो विचारों में प्रगतिशील था लेकिन उग्रवादी नेता संकीर्णता को छोड़ नहीं पा रहे थे।

उदाहरण के लिए बाल गंगाधर तिलक ने हर तरह के समाज सुधार का, यहां तक कि बाल विवाह की प्रथा के खिलाफ वाले आंदोलन का भी विरोध किया। वह जाति की व्यवस्था में विश्वास रखते थे और उसकी वकालत भी करते थे। गांधीजी जिन्होंने छुआछूत के विरुद्ध आंदोलन चलाया और राष्ट्रीय साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में लाखों लोगों को राष्ट्रीय आंदोलन में खींच लिया। उन्होंने भी 1921 में घोषणा की थी (1) मैं वेद, उपनिषद, पुराण, धर्मग्रन्थों, अवतारों तथा पुनर्जन्म में विश्वास रखता हूं। (2) मैं वर्णाश्रम धर्म में विश्वास रखता हूं। (3) मैं गोरक्षा में विश्वास करता हूं।

इस तरह राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारंभिक दौर में दोहरे चरित्रवाला बुद्धिजीवी वर्ग हमारे यहां था। वे एक ओर किसानों पर लगे सरकारी करों, भूमिकर तथा अन्य सरकारी कदमों का विरोध करने के लिये तैयार थे, दूसरी ओर वे अपने कार्यक्रम में कृषि संबंधों का उल्लेख करने से कतराते थे। 1920 में कांग्रेस ने खुल्लम-खुल्ला बड़े-बड़े जमींदारों का पक्ष लिया। उदाहरण के लिए 18 फरवरी, 1922 के बारदोलोई फैसले में कहा गया, "वर्किंग कमेटी, कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं और संगठनों को सलाह देती है कि वे रैयतों को समझा दें कि जमींदारों का लगान रोकना कांग्रेस के प्रस्तावों के खिलाफ है। जमींदारों को आश्वस्त करती है कि कांग्रेस का आंदोलन उनके वैध हितों पर हमला बोलने के कतई पक्ष में नहीं है।" विकसित देशों तथा नये पूंजीवादी स्वाधीन देशों में जहां पूंजीपतिवर्ग वपना वर्चस्व बनाये रखा है वहां उसने कृषि क्रान्ति को पूरा नहीं होने दिया। इसी वजह से उन देशों में पूर्व पूंजीवादी विचार धारायें और उनसे जुड़े संबंध बरकरार हैं आज भी पान इस्मालिज्म, इस्लामिक-गण राज्य, सीमित गणतन्त्र इत्यादि। इसी तरह की अनेक प्रतिक्रियावादी कबीलायी सामंती विचार लोगों के दिमागों में, उनके संस्कारों में कुण्डली मारकर बैठा है क्योंकि पूंजीवाद से पहले के जिन संबंधों से इन विचार धाराओं ने जन्म लिया था उनकी जमीन अभी तक उपजाऊ है।

सब कुछ के बावजूद जातियों का तेजी के साथ बिखराव हो रहा है। हर जाति के भीतर सम्पतिवान और सम्पतिहीनों के बीच विभाजन हो रहा है। कृषि में लगी लगभग हर जाति गरीबी बढ़ने की इस प्रक्रिया की शिकार हो रही है। इस तरह जातिगत भेदभावों के अस्तित्व के साथ-साथ शोषितवर्ग के रूपग्रहण करने की प्रक्रिया भी घटित हो रही है।

ब्रिटिश शासकों ने मुसलमानों, पिछड़े समुदायों और अछूतों को पृथक निर्वाचन क्षेत्र सरकारी नौकरियों में आरक्षण तथा शिक्षा संबंधी सुविधाएं देकर राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग संघर्ष और एकता की योजना को असफल बनाने की कोशिश की। उनका उद्देश्य था पिछड़ी जातियों में उन्नति की उम्मीद जगाना, उन्हें आम संघर्ष से अलग रखना, पृथक जातियों तथा साम्प्रदायिकता की भावना को बनाये रखना।

आजादी के बाद संविधान में समानता की बात की गयी लेकिन भूमि संबंधों का बुनियादी ढांचा जैसे का तैसा है। जमींदारी खत्म कर दी गयी लेकिन पुरानी बुनियादी असमानता का ढांचा आज भी बरकरार है। भूमि संबंधी कानून एक मजाक बनकर रह गया अर्थात् वर्तमान शासक वर्ग उसी पुराने आर्थिक ढांचे को कायम रखने में लगा है।

जातिवाद की भयावहता इसके उत्पीड़न तथा इससे उत्पीड़ित लोगों के दिमाग में अपने प्रति होने वाले अन्याय का अहसास तो है लेकिन जो लोग बेहतर स्थिति में है वे अपने से बदतर वाले लोगों के प्रति होने वाले रोजमर्रा के अन्याय को दूर करने के लिए तत्पर नहीं हैं। जाहिर है कि अगर किसी प्रतिक्रियावादी विचारधारा के खिलाफ संघर्ष लगातार न चलाया जाय तो वह बदलाव तथा प्रगति की राह में बाधक बनती है। अतः इस विचार धारात्मक संघर्ष को, भूमि संबंधों सहित वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने के साथ जोड़ना होगा। आरक्षण समर्थन तथा आरक्षण विरोधी आन्दोलन, एक जाति का दूसरी जाति से सशस्त्र संघर्ष पूंजीपति भूस्वामी वर्ग की वर्गीय स्थिति को और मजबूत कर रहा है। अतएव जाति व्यवस्था के खात्मे का सवाल पूंजीपति भूस्वामी वर्ग के खात्मे और समाजवाद की दिशा में संघर्ष करने के सवाल से जुड़ा है।

कुछ बुद्धिजीवी इतिहास की व्याख्या के सिलसिले में यह धारणा रखते हैं कि इतिहास संबंधी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का आविर्भाव मध्ययुगीन अर्थात् मुस्लिम युग से हुआ। वास्तविकता तो यह है कि सम्पूर्ण भारत का इतिहास साम्प्रदायिकता से ओतप्रोत है। यह स्थापना कि प्राचीन भारत, मुसलमानों के आने के बाद साम्प्रदायिक उत्तेजना में फंसा, विदेशी आक्रमणों का शिकार हुआ और हिन्दू साम्प्रदायिक बुद्धिजीवियों के साथ-साथ मुसलमान साम्प्रदायिक बुद्धिजीवी भी इसी तरह का तर्क प्रस्तुत करते हैं। 18वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी तक तीन तरह की विचारधाराओं का संघर्ष इतिहास की व्याख्या में मिलता है (1) प्राच्य विद्याविद् (2) उपयोगितावादी (3) राष्ट्रीयतावादी। संस्कृति के अध्ययन के साथ-साथ इण्डोयूरोपियन संस्कृत (भाषा) और यूनानी संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन शुरू हुआ। आर्यों की विशेषता जाति के रूप में स्थापित की गयी जिसके बारे में मैं विस्तार से लिख चुका हूं। एक सबसे घातक साम्प्रदायिक इतिहास की दृष्टि से जो किया गया वह इतिहास का काल विभाजन हिन्दू काल, मुस्लिम काल तथा आधुनिक काल में किया गया। क्या जेम्समिल द्वारा लिखे गये इतिहास में वंशगत इतिहास के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक दशा की व्याख्या को छोड़ नहीं दिया गया? प्राचीन काल में विशेष कर जिसे हिन्दू काल कहा जाता है उसमें मौर्यवंश, इण्डोयूनानी, शाक्य, कुषाण इत्यादि बहुत से राजवंश हुए। उनमें से बहुत से तो जैन एवं बौद्ध धर्म के अनुयायी थे जो अपने को हिन्दू नहीं कहते थे। इसलिए इतिहास के विभाजन में हिन्दू शब्द जोड़ना न्याय संगत नहीं। हिन्दू शब्द का तो सबसे पहले अरबों ने प्रयोग किया।

यह भी एक आश्चर्यजनक बात है कि हम अरब, तुर्क, पारसियों को मुस्लिम कहते हैं। तेरहवीं शताब्दी तक मुस्लिम शब्द कहीं-कहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही इस्तेमाल किया जाता था। तुर्क को तुरुसकाश और अरबों को यवन कहा जाता था। लोग पश्चिमी एशिया से यहां आते थे वे चाहे यूनानी हों या रोम के या अरब के, यह उन्हीं के लिए इस्तेमाल होता था। दूसरा शब्द तुर्कों एवं अरबों के लिए इस्तेमाल किया जाता था, वह शब्द म्लेच्छ था। ऋगवेद में इस शब्द का इस्तेमाल होता है और यह शब्द अनार्यों के लिए इस्तेमाल होता था। बाद में यह विदेशियों के लिए भी प्रयोग में लाया जाने लगा इसलिए म्लेच्छ शब्द संस्कृति के लिये इस्तेमाल किया गया।

अरबों ने ईसा की आठवीं सदी में सिन्धु पर अपना राज्य कायम किया और तुर्कों ने ।।वीं शताब्दी में पंजाब में। ।4वीं शताब्दी में मुस्लिम-वंश ने दकन में अपना राज्य स्थापित किया। अतएव मुस्लिम राज्य की स्थापना का कोई एक समय नहीं है। एगेल्स ने लिखा है- इस्लाम पूर्व के लोगों विशेष कर अरबों के अनुकूल धर्म है अर्थात् एक ओर यह उनके अनुकूल है जो शहरों में व्यापारर में लगे हुए हैं तथा दूसरी ओर घुमक्कड़ बेदुई लोगों के अनुरूप है। हजरत मुहम्मद और तत्कालीन खलीफा ने व्यापार में लगे समूहों और पिछड़े हुए कबीली समुदायों को एक जुट करने में सहायता की और यही प्रयत्न अरब देशों में सामन्तवाद का सेद्धान्तिक आधार बन गया। अरब देशों में सामन्तवाद का विकास इसलिए हुआ, क्योंकि वहां कबीली साम्यवाद के दृढ़ अवशेष भी मौजूद थे। खलीफा और विजेता योद्धाओं के रूप में रंगमंच पर आये और इसी प्रक्रिया ने एशिया, अफ्रीका की जनता के बड़े हिस्सों को इस्लाम की ओर आकृष्ट किया। आम ऐतिहासिक घटनाक्रम ने एक धार्मिक छाप ग्रहण की। यह याद करने की बात है कि इस्लाम के जन्म के पहले भी अरब तथा भारत की जनता का व्यापारिक संबंध था। अपने व्यापारिक हित के लिए मालावार के शासक जमोरिन ने अपने क्षेत्र में उन्हें मस्जिदें बनाने और धर्म के प्रचार की छूट दी थी।

आठवीं शताब्दी में इस्लामी प्रभाव का दूसरा दौर शुरू हुआ। उस समय हिन्दू समाज में जाति प्रथा का प्रभाव, छुआछूत, कर्म का सिद्धांत अपनी जड़ जमा चुका था। इन्हीं परिस्थितियों ने मुस्लिम विजेताओं के अधीन सामन्ती राज्यों की स्थापना के लिए जमीन तैयार की। गोरी और गजनी का आक्रमण हुआ, दिल्ली सल्तनत बनी। उसने भारत में पहली बार एक शक्तिशाली मध्ययुगीन राज्य का निर्माण किया। मुसलमान आक्रमणकारी अपने साथ एक नया धार्मिक दृष्टिकोण लाये थे, लेकिन उनके पास उत्पादन की कोई नयी प्रणाली नहीं थी इसलिए वे भारत के तत्कालीन सामन्तवादी आधार को बदल नहीं पाये। यहां तक लिखा गया है कि भारत के मुसलमान शासक अब तक प्राचीन इस्लाम के कितने ही लक्षणों को त्याग चुके थे। खलीफाओं ने कुरान की शिक्षाओं की नयी व्याख्या की। साथ ही साथ दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पहले ही मुस्लिम विजेता फारस के उच्च वर्ग के गैर इस्लामिक विचारों को आत्मसात् कर चुके थे। भारत में इस्लाम का जो रूप था उसकी अन्तर्वस्तु अरब से भिन्न थी तो भी यह सच है कि पुरानी सादगी, कबीलायी जनतंत्र और सामाजिक न्याय के कुछ तत्व इनमें अब भी मौजूद थे। इसमें अस्पृश्यतावाला तत्व अछूतों के लिए काफी आकर्षक बना। बहुत से हिन्दुओं ने स्वेच्छा से इस्लाम धर्म को स्वीकार किया। इस्लाम धर्म ने हिन्दू जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। डाक्टर ताराचन्द ने मराठा, राजपूत, सिक्ख, रजवाड़ों के रीति रिवाजों, उनके दैनिक जीवन की छोटी-छोटी बातों, संगीत, पोषाक, पहनावा, पाक कला, विवाह संस्कारों, तिथि त्यौहारों, मेलों दरबारी तहजीब पर विस्तार से लिखा है।

बाबर तक आते-आते इस्लाम ने अपने आपको भारतीय सामन्ती परिवेश के अनुकूल बनाया। भारतीय मुसलमान 'शरीफ जातों', 'अजलाफ' यानि ऊंच-नीच में बंट गये। इतिहासकार ताराचन्द ने लिखा है कि 'दोनों में जहां समूह चेतना का विकास हुआ था और दोनों में क्षेत्रीय तत्व प्रधान था, वहां दोनों की अन्तर्वस्तु एक दूसरे से मेल नहीं खाती थी और घुल-मिल नहीं पाती थी।' लेकिन दो अलग-अलग राष्ट्र नहीं थे उनमें वंशीय या जातीय भेदभाव नहीं थे। दोनों धार्मिक समूहों के खेतिहर या कारीगर वास्तव में एक ही वर्ग के थे। ठीक वैसे जैसे राजपूत, मुसलमानों में शेख। लेकिन जनता में अपना प्रभाव बढ़ाने के उद्देश्य से मुसलमान शासकों ने नये मुसलमान शासकों को सत्ता के हित के लिए ही विशेष सुविधाएं प्रदान की।

इतिहासकारों ने एक और भ्रांति को जन्म दिया है जो साम्प्रदायिकता के प्रचार-प्रसार में उकसावे का काम करता है, परन्तु इतिहास का सही विश्लेषण कुछ और ही बताता है। तुर्क, अफगान, मुगलों के बहुत पूर्व से ही शासक शोषक वर्ग ने अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिए धर्म का बार-बार व्यवहार किया है। इसके व्यवहार में उन्होंने अपने विरोधियों का दमन किया है और धर्म के नाम पर जनता में भेदभाव की खाई चौड़ी की है। इसलिए धर्म और राजनीति के संबंधों को ऐतिहासिक दृष्टि से समझने की जरूरत है।

यद्यपि सिन्धु सभ्यता के बारे में अभी पूरी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है, लेकिन इस सभ्यता के अंतिम दिनों से ही राजनीतिक प्रभुसत्ता को सुदृढ़ करने के लिए आक्रमणों के ऐतिहासिक साक्ष्य मिलते हैं। उदाहरणार्थ दास प्रभुवों ने इण्डो इरानी दास प्रभुवों के साथ युद्ध किया था। कालान्तर में 600 ई0 पू0 सिन्धु सभ्यता के दास प्रभुवों के प्रतिपक्ष वैदिक धर्म के विरुद्ध शेष धर्म का आश्रय लिया था। 600 ई0 पू0 सामन्ती मालिकों ने पंचदर्शन का व्यवहार इसलिए किया था कि उनके विरोधियों का ब्राह्मणवाद, बौद्ध तथा जैन धर्म में विश्वास था। गुप्त वंश के सम्राटों ने ब्राह्मणवाद के नाम पर राजसत्ता का रोष बौद्ध और जैन धर्मावलम्बियों पर उतारा था। यही नहीं 500 से 1200 ई0 तक सारे देश के सामन्तों ने ब्राह्मणवाद और बौद्धधर्म के प्रसार के लिए एक-दूसरे के साथ निरन्तर युद्ध जारी रखा। उस समय का इतिहास इस बात का साक्षी है कि आक्रमणकारियों ने धार्मिक स्थानों की लूट की। विरोधी धर्मावलम्बियों का व्यापक नरसंहार किया गया।

कल्हण ने राजतरंगिनी में जो विवरण दिया है उसके अनुसार काश्मीर के सम्राट हर्ष ने अपने राज्य के सभी मन्दिरों को आर्थिक लाभ के लिए लूटा था। मंदिरों की लूटमार के संचालन के लिए 'देवोत्पन्न नायक'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामक पदाधिकारी की नियुक्ति की थी। हमारे देश के इतिहासविदों ने इसे स्वीकार किया है कि हिन्दू साम्राज्यवादियों ने (900-1200 ई0 तक) असंख्य बौद्ध तथा जैन धर्मावलम्बियों की हत्या की थी और बहुत से बौद्ध विहारों को ध्वस्त किया था।

मुसलमान सामन्तों ने भी अपने सत्ता के हित में प्रजा को हिन्दू राजाओं के खिलाफ एकबद्ध किया था। तैमूर के वंशज और काबुल के शासक बाबर ने अपनी सेना सहित उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। नादिरशाह ने 24 घंटे के अंदर डेढ़ लाख लोगों का कत्ल किया था। वे सब हिन्दू ही नहीं थे। उनमें एक लाख मुसलमान थे। नादिरशाह इरानी मुसलमान था। उसने मुगलों का कत्ल किया था। तैमूर लंग ने 4 दिन के अंदर ही 4-5 लाख आदमियों का कत्ले आम किया था। उसमें से 3 लाख पठान मुसलमान थे। जब मुगलों का जमाना आया तो पठान बेचारे हिन्दुओं की ही तरह दबाये जाते थे और कत्ल किये जाते थे। मुगल शासन काल मोटे तौर पर मध्ययुग के अन्त और भारतीय इतिहास के आधुनिक युग के आरम्भ का द्योतक है।

14वीं और 17वीं शताब्दी के बीच भारत में एक नयी भावना फैली थी। प्रत्येक क्षेत्र में आर्थिक, प्रशासनिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इत्यादि नयी हवाओं के झोंके के आ रहे थे। पहली बार सामन्ती संबंधों का स्थान धीरे-धीरे विकासमान पूंजीवादी संबंध ले रहे थे। इसी समय भारत में जातियों (Nationality) के अंकुरों के फूटने और विभिन्न भाषाओं के विकास का प्रारम्भ हुआ। यदि सूफी धर्म का अध्ययन किया जाय तो पता लग जाएगा कि हिन्दू धर्म से मुसलमानों ने बहुत कुछ ग्रहण किया। अत: समस्या व्यवस्था विशेष के उद्भव और विकास के परिस्थितियों को समझने की है। इसी तरह औरंगजेब ने हिन्दुओं पर जजिया कर लगाया था लेकिन मुसलमानों पर उसके द्वारा जकात कर भी लगाया गया था। इब्नबतूता ने तो यहां तक लिखा है कि दक्षिण भारत में जमोरिन नामक हिन्दू शासक यहुदियों से जजिया कर वसूलता था। हिन्दुस्तान के बाहर मुसलमान शासकों ने मुसलमान प्रजा पर ही जजिया कर लगाया था। इसलिए जजिया कर को धर्म से जोड़ना गलत है। ऐसे साक्ष्य मिलते हैं कि शत्रुओं के क्षेत्र वाले मंदिरों को ही तोड़ा गया है क्योंकि वे षड्यंत्र के अड्डे बन रहे थे। इस तरह परमार वंश के राजाओं ने भी गुजरात के जैन मन्दिरों को तोड़ा था और औरंगजेब ने कुछ मन्दिर बनवाये भी थे। मुश्किल तो यह है कि मुगल काल के दरबारियों ने जो संस्मरण लिखे हैं वे अधिकतर दरबार से जुड़े हैं परन्तु उसे पूरे भारत के लिए सार्वजनिक बना दिया गया। मुसलमानों के राज्य में बड़े-बड़े अधिकारी व सिपाही हिन्दू थे और हिन्दू राज्यों में मुसलमान थे इसलिए जो संघर्ष हुए या जो दमन हुए उसके पीछे राजनीतिक कारण थे, धार्मिक नहीं।

इस तरह इतिहास के उपनिवेशिक दृष्टि से मुक्ति पाने के लिए साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से मुक्त होकर वैज्ञानिक दृष्टि अपनाने की जरूरत है।

राष्ट्रीयता की ऐतिहासिक समझ के अभाव में ही आज उग्र जातियता तथा सभ्यतावाद का उदय हो रहा है। ध्यान देने की बात है कि बहुमत की साम्प्रदायिकता हमें फासीवाद की ओर ले जाएगी जिसका नारा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ लगाता रहा है और अल्पमत की साम्प्रदायिकता अलगाववाद की ओर ले जाएगी। जमायते इस्लामी, खालिस्तान, गोरखालैंड, झारखंड इत्यादि का आंदोलन इसी खतरे की घंटी बजा रहे हैं। शोषक शासक वर्ग यथास्थिति कायम रखने के लिए इसे और उकसावा दे रहे हैं और इतिहास का साम्प्रदायिक दृष्टिकोण हमारे संस्कार में पृष्ठभूमि का काम कर रहा है। यही नहीं अरब और इसराइल के झगड़े में अमरीकी साम्राज्यवाद की भूमिका से सभी अवगत हैं। मिशनरियों के द्वारा भारत में क्षेत्रियतावाद को बढ़ावा देना, पेट्रोडॉलर द्वारा भारतीय मुसलमानों में हिन्दू विद्वेष फैलाना, विश्वहिन्दू परिषद द्वारा रामजन्मभूमि और बाबरी मस्जिद की समस्या को उलझाना तथा मेरठ इत्यादि में शासक वर्ग द्वारा दंगे करवाना, यह हर नागरिक के लिए चिन्ता का विषय है। आज आर्थिक संकट राजनीतिक संकट में बदल रहा है। जनता का असंतोष गलत दिशा में मोड़ने के लिए इतिहास का यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण हिन्दूतत्ववाद और मुस्लिमतत्ववाद को बढ़ावा दे रहा है।

जब कभी और जहां भी क्षेत्रीय संस्कृति जड़ जमाती है तो पूंजीवाद उसे क्षेत्रीय हितों में बांटने की कोशिश करता है। जाहिर है कि हर क्षेत्र का अपना विशेष इतिहास और विशेष संस्कृति होती है। हमें आंदोलन करके इन दोनों को संरक्षित करना चाहिए। हमारे देश में अलग-अलग भाषाएं, संस्कृतियां और उनकी क्षेत्रीय परंपरायें हैं, इनको अवश्य संरक्षण मिलना चाहिए, लेकिन इनके परस्पर हितों से जोड़कर एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है। हमारे देश में शोषक शासक वर्ग ने सारे देश का असमान विकास किया है, इसी विषमता के कारण असंतोष पैदा हो रहा है और हमारा पिछड़ापन उसे अन्धराष्ट्रवाद और अलगाववाद की ओर ढकेल रहा है। अतएव वास्तविकता के इस अन्तर्वस्तु को समझे बिना इन समस्याओं को सुलझाया नहीं जा सकता। फिलहाल पिछड़े राज्यों को उन्नत राज्यों के समकक्ष लाना तथा केन्द्र और प्रांतों के संबंधों में राज्यों को अधिक अधिकार के लिए संघर्ष में सबको एकजुट करके जनवादी क्रांति दिशा में अग्रसर होकर ही हम इतिहास को सही दिशा में मोड़ सकते हैं। समाजवादी देशों में जहां क्रांति का एक स्तर सम्पन्न हो चुका है वहां समस्याएं नहीं हैं। बिना जनवादी क्रांति के राष्ट्रीय अखंडता सुरक्षित नहीं रखी जा सकती। आज हम एक निर्णायक बिन्दु पर पहुंच चुके हैं जहां हमें अपने इतिहास, अतीत, अपनी अस्मिता और अपनी संस्कृति का पुनर्परीक्षण करना आवश्यक हो गया है। एक बात और नहीं भूलनी चाहिए कि केवल कला, साहित्य, संगीत, सिनेमा की रचना से ही कोई संस्कृति समृद्धि नहीं हो सकती। किसी संस्कृति का समृद्ध होना उसकी प्रगतिशील विषयवस्तु पर निर्भर करता है और इसके लिए वैज्ञानिक विकास की दृष्टि से हमें अपने इतिहास को समझना होगा।

H-13, एल.आई.जी स्टेट
8/1, रूस्तम जी पारसी रोड, कलकत्ता-2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org